फ़िल्मी पोस्टर का सफ़र

रंजनी मजुमदार

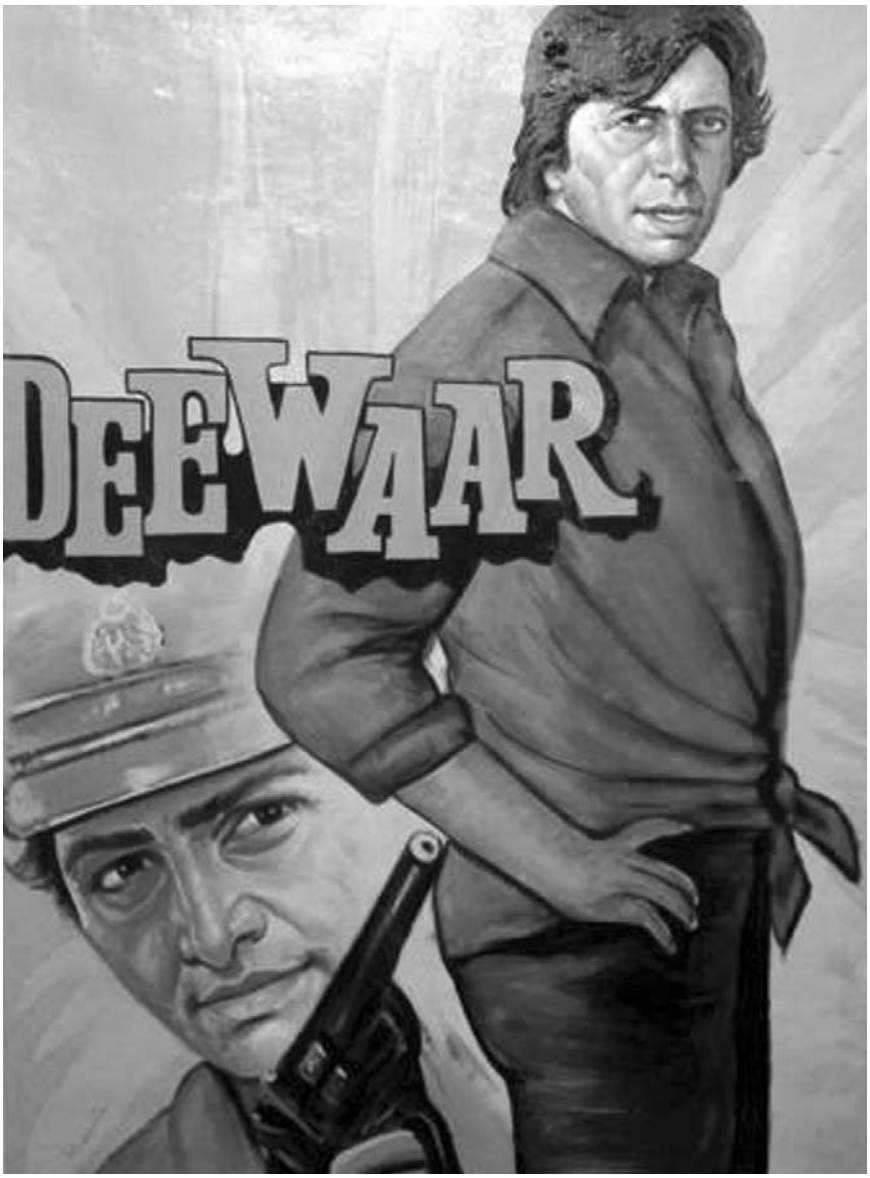

भूमंडलीकरण के इस दौर में जहाँ हमारी रोज़ाना की ज़िन्दगी छवियों से लबरेज़ है, प्रचार में दृश्य की अहमियत को रेखांकित करने की ज़रूरत नहीं है। भूमंडलीकरण के बाद 1990 का दशक भारतीय फ़िल्म उद्योग के लिए महत्वपूर्ण रहा है। टेलीविज़न का प्रवेश, नगरीय इलाक़ों का रूपान्तरण, इंटरनेट का प्रसार तथा नई तकनीक के आगमन, सौन्दर्यशास्त्रीय संवेदनाओं तथा बाज़ारी रणनीतियों में परिवर्तन ने फ़िल्म उद्योग पर अपनी छाप छोड़ी है। संयोगवश इसी दौर में फ़िल्म उद्योग अपने इतिहास के भयंकर आर्थिक संकट से भी ग्रस्त रहा है चूँकि ज़्यादातर फ़िल्में बॉक्स ऑफ़िस पर पिटी हैं। यूँ तो पहले के दौर में भी फ़िल्म प्रचार हमेशा महत्वपूर्ण रहा है लेकिन अब यह एक बिल्कुल अलग मुक़ाम पर आ पहुँचा है। 'एन्डेवर' के प्रमुख (1998 में स्थापित एक मार्केटिंग कम्पनी) राजेश ग्रोवर बताते हैं कि फ़िल्म की सफलता में प्रचार और मार्केटिंग की भूमिका पाँच से दस प्रतिशत होती थी लेकिन अब यह हिस्सा चालीस से पचास प्रतिशत हो गया है।

ग्रोवर का ख़याल है कि समकालीन भूदृश्य में मीडिया प्रतियोगी प्रचार और बाज़ार की जगह बन गया है। पहली बात तो यह हुई है कि नई तकनीक और दृश्य के तमाशे ने पुराने हस्तमुद्रित फ़िल्म पोस्टर की शक्ल ही बदल दी। दूसरी ओर डिजिटल पोस्टरों के इस युग ने हाथ से छपे पोस्टर को 'कला-वस्तु' के रूप में देखने की ख़्वाहिश पैदा कर दी है। इन दोनों ही प्रवृत्तियों में आप एक साथ दृश्य का तमाशा और पुराने रूपों के प्रति मोह देख सकते हैं, जिसे भुनाने के लिए नई वित्तीय संस्थाएँ नए तरह के उपक्रम और अनोखे प्रचार-प्रसार की रवायतें पेश कर रहे हैं।

इस लेख में हम समकालीन पोस्टर के उत्पादन और वितरण को उसके ऐतिहासिक, तकनीकी और शहरी बदलावों के संदर्भ में देखेंगे। तभी यह बात साफ़ हो पाएगी कि जहाँ एक ओर समकालीन प्रचार तकनीकों और टेलीविज़न ने पोस्टर की शक्लोसूरत और उनकी क़ीमतों में इज़ाफ़ा किया है वहीं दूसरी ओर पुराने पोस्टर रूपों के प्रति अतिरिक्त मोह भी पैदा हुआ है। इन बदलावों को भाँपते हुए नई संस्थाओं ने एक बिल्कुल अभिनव माल की तैयारी में खुद को जुटा दिया है। गलियों से अजायबघर तक पोस्टर का यह निराला सफ़र बेहद दिलचस्प है।

निर्माण, वितरण और प्रसार की तकनीक

फ़िल्म पोस्टर की शुरुआत की निश्चित तारीख़ बता पाना मुश्किल है। लिथोग्रैफ़िक छपाई भारत में 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में आयी तथा इसका पहला प्रयोग धार्मिक तस्वीरों की छपाई में हुआ। दादा साहब फाल्के द्वारा 1913 में निर्मित पहली भारतीय फ़िल्म *राजा हरिश्चन्द्र* की कहानी धार्मिक मिथकीय ही थी। अख़बारों के विज्ञापन, पर्चे और प्रचार पुस्तिकाएँ तो मिलती हैं लेकिन पोस्टरों के इस्तेमाल के सबूत अप्राप्य हैं। बाबूराव पेंटर द्वारा निर्देशित *कल्याण खजिना* (1924) का पोस्टर संभवतः सबसे पुराना उपलब्ध पोस्टर है। खुद निर्देशक ने इसकी डिज़ाइन तैयार की थी और उसमें रंग भी भरे थे। ये पोस्टर पहले अमूमन कैनवस पर बनाए जाते थे और फिर उसी स्रोत का इस्तेमाल कर सस्ते काग़ज़ पर छपाई की जाती थी। चूँकि छपाई की सामग्री ही विज्ञापन का मुख्य ज़रिया थी, इसलिए स्टूडियो युग में फ़िल्मी गाने, कहानियों की पुस्तिकाएँ, पर्चे और पोस्टर बड़ी तादाद में छपते थे लेकिन इसमें सबसे अहम पोस्टर ही था।

अपनी शुरुआती ज़िन्दगी से ही पोस्टर का घुमक्कड़ स्वरूप मशहूर रहा है और यह शहर की दरो-दीवार से लेकर शौचालयों, पान की दुकानों और झोंपड़ियों तक चिपका पाया जाता रहा है। इसके सहारे फ़िल्म संस्कृति को तो बढ़ावा मिलता ही है, होटलों में सजावट भी की जाती है — यह एक साझा विज्ञापन और फ़िल्म-संस्कृति का प्रतीक — दोनों है। शहरी केन्द्रों में तो पोस्टर वर्षों से छापे-लगाए जाते रहे हैं। सिनेमा थियेटरों के बाहर तथा शहर की दीवारों पर इनकी मौजूदगी देश के अधिकांश शहरों की दृश्य-संस्कृति का अहम पहलू है। कई छोटे शहरों में आज भी इन पोस्टरों को रिक्शे पर चारों तरफ़ चिपकाकर, एक आदमी को लाउड-स्पीकर से प्रचार करते देखा जाता है। बड़े शहरों में फ़िल्म के प्रचार का पुराना रूप नई डिजिटल तकनीकों के आगमन तथा गलियों में नियॉन लाइट विज्ञापन की ज़ोरदार मौजूदगी के कारण धीरे-धीरे परिवर्तन के दौर से गुज़र रहा है। नए शहर की चकाचौंध से मुक़ाबला करने में असमर्थ ये पारम्परिक फ़िल्म पोस्टर अब केन्द्र से परिधि की तरफ़ जा रहे हैं। मिसाल के तौर पर दिल्ली में ही ऐसे पोस्टर ज़्यादातर पुराने शहर या पूर्वी और पश्चिमी इलाक़े के ख़स्ताहाल

सिनेमाघरों पर लगा जाते हैं। छोटे शहरों में, जिन्हें फ़िल्म वितरक 'इंटीरियर्स' कहते हैं, पोस्टर अभी भी दीवारों पर चिपकाए जाते हैं।

आज यह पोस्टर उद्योग एक विस्तृत ढाँचा है जिसमें फ़िल्म के कुल बजट का लगभग 5 से 10 प्रतिशत हिस्सा जाता है। यह किसी भी फ़िल्म की पब्लिसिटी का एक अत्यंत आवश्यक हिस्सा है। फ़िल्मी पोस्टर तैयार करने वाले सात या आठ डिज़ाइन घराने हैं और सबके सब मुम्बई में हैं। फ़िल्म निर्माता इन्हें प्रचार-सामग्री तैयार करने का पूरा ठेका देते हैं, जिसके अंतर्गत पोस्टर, फ़ोटो-सेट, ऑडियो कैसेट, सीडी कवर और ब्रोशर शामिल हैं। डिज़ाइन के बाद लगभग डेढ़ लाख पोस्टर बनाये जाते हैं तथा उन्हें विभिन्न वितरण क्षेत्रों में प्रिंटरों द्वारा सीधे भेजा जाता है। भारत में पाँच मुख्य फ़िल्म वितरण क्षेत्र हैं जिनमें मुम्बई सबसे बड़ा है। विभिन्नता-विशालता तथा दूरदराज़ के प्रदेशों को ध्यान में रख कर वितरण नेटवर्क द्वारा सांस्कृतिक और सामाजिक विशिष्टिता का निर्धारण करके दर्शकों के अलग-अलग खंड या हिस्से बनाए जाते हैं।

इस तरह 'ए', 'बी' और 'सी' तीन श्रेणियाँ हैं। वितरकों के लिए दर्शकों की भी तीन विशिष्ट कोटियाँ हैं। 'सी' श्रेणी में ऐसी जगहें आती हैं जहां छोटे बजट की और आम तौर पर अर्द्ध-कामोत्तेजक फ़िल्में चलती हैं। श्रेणी 'ए' में बड़े महानगर — दिल्ली, मुम्बई, कोलकाता, चेन्नई, बंगलोर — तथा अन्य बड़े शहर आते हैं। श्रेणी 'बी' में वे छोटे शहर आते हैं जिन्हें 'इंटीरियर्स' कहा जाता है। फ़िल्म पोस्टर की रचनात्मकता इन क्षेत्रीय विभाजनों की वितरकीय परिभाषा पर निर्भर करती है। दिल्ली के प्रमुख फ़िल्म पोस्टर वितरक संजय मेहता का कहना है कि श्रेणी 'ए' की नागर कॉस्मोपॉलिटन संवेदनशीलता वितरकों को पोस्टरों के साथ कुछ आज़ादी देती है। पोस्टरों में गिटार का होना शायद दूरस्थ अभ्यंतरिक प्रदेशों में न स्वीकार किया जाए इसीलिए इन प्रदेशों के दर्शकों की रुचि के अनुसार स्थानीय रूप से सामान्यतः नए पोस्टर बनाए जाते हैं। श्री मेहता का कहना है कि केन्द्र 'बी' के दर्शकों के लिए गिटार बंदूक़ बना दिया जाता है।

इसी तरह ख़ास हिस्सों में कलाकारों की लोकप्रियता भी पोस्टरों के रूप में अंतर लाती है। स्थानीय संवेदनशीलता और दर्शकों की उम्मीदों के आधार पर निर्धारित कलाकारों की लोकप्रियता पोस्टरों की शक्ल को प्रभावित करती है। यह उसी तरह है, जैसे कुछ ख़ास फ़िल्मों के कलाकारों का निर्धारण होता है। एक्शन फ़िल्म को साधारण तथा श्रेणी 'बी' में सफल माना जाता है तथा कुछ 'ए' श्रेणी में भी। यहाँ पोस्टरों में आक्रोश की अतिनाटकीयता, मर्दानगी, बंदूक़ें, तकनीकें, कारें तथा जोखिम भरे दृश्यों को दिखाया जाता है। यहाँ स्त्री कलाकारों को सीमांत में रखा जाता है। इसी तरह 'ए' श्रेणियों में पारिवारिक फ़िल्मों की सफलता बहुत-सी बातें दिखाती हैं, मसलन — नए भारतीय परिवारों में उत्सवपूर्ण माहौल, आनन्दपूर्ण समारोह, नखरेबाजी, शादी के रंग-बिरंगे परिधान तथा कई औरतों का होना। पारिवारिक फ़िल्मों में रोमांस की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है।

अधिकांश वितरकों और मुद्रकों का मानना है कि मुम्बई से निकलने वाले पोस्टर दर्शकों को एकसूत्र में बाँधने का काम करते हैं — यानी कि उनकी एक सार्वभौमिक भूमिका है। चूँकि ये पोस्टर अत्यंत महत्वपूर्ण हैं इसलिए वितरकों द्वारा अपने विशेष दर्शकों की रुचियों और प्राथमिकताओं को ध्यान में रखना आवश्यक समझा जाता है। इसीलिए स्थानीय डिज़ाइनों में खास भौगोलिक क्षेत्र की सांस्कृतिक पसंद को तरजीह दी जाती है। मुम्बई से अंग्रेज़ी में भेजे जाने वाले पोस्टरों को उत्तरी भारत में हिंदी में परोसा जाता है। बंगाल में पोस्टरों में कभी-कभी बांग्ला का प्रयोग होता है। लोकप्रिय धार्मिक उत्सवों का भी पोस्टरों पर प्रभाव पड़ता है।

उत्तर प्रदेश में ईद के दौरान स्थानीय डिज़ाइन द्वारा 'ईद मुबारक़' काफ़ी मोटे अक्षरों में पोस्टर के ऊपर लिखा जाता है, जो मुस्लिम क्षेत्र के दर्शकों को ध्यान में रखकर किया जाता है। इसी प्रकार होली और दिवाली में भी हिंदुओं के लिए किया जाता है। इन अवसरों पर फ़िल्मों को मनोरंजन के मुख्य साधन के रूप में दिखाने का प्रयास किया जाता है। बड़े बजट की फ़िल्म के लिए स्थानीय पोस्टरों की संख्या लगभग 70 से 80 हज़ार तक होती है। सामान्यतः फ़िल्म रिलीज़ होने के बाद जब पहले हफ़्ते में फ़िल्म अच्छी चलती है तो पोस्टर नहीं बदलते हैं, लेकिन यदि पहला सप्ताह अच्छा नहीं होता है तो दर्शकों का ध्यान आकर्षित करने के लिए नए वैकल्पिक पोस्टर बनाए जाते हैं। जैसा कि कई मुद्रकों और वितरकों द्वारा बताया गया, उनके लिए फ़िल्म रिलीज़ होने के दिन से ही उल्टी

गिनती शुरू हो जाती है। बॉक्स ऑफ़िस पर फ़िल्म की दशा को देखकर वितरक दर्शकों के बारे में निर्णय लेते हैं। अगर फ़ायदे कम होते हैं तो स्थानीय रूप से लोकप्रिय तथा ग्राह्य चीज़ों को पोस्टरों में जगह दे देते हैं भले ही ये चीज़ें वास्तव में उन फ़िल्मों में हों या न हों। इस प्रकार पोस्टर सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक लोकप्रिय संस्कृति के प्रतीकात्मक उदाहरण बन जाते हैं जो विनिमय के अनेक स्तरों से प्रभावित होते हैं।

अपनी रचना में रंगों के प्रयोग तथा अंतिम प्रिंटिंग प्रक्रिया के समय से ही निर्माण की तकनीकों, डिज़ाइन आदि से होकर पोस्टर एक लम्बा सफ़र तय करता है। पहले निर्माता द्वारा दिए गए फ़ोटोग्राफ़ को चित्रकार कैनवस पर चित्रित करता था। विभिन्न मुद्राओं और कलाकारों के हाव-भाव तथा निर्माण श्रेय से युक्त इस पोस्टर को बनाने में प्रायः एक सप्ताह का समय लगता था। कैनवस औसतन 30 इंच चौड़े और 40 इंच लम्बे होते थे। परिवर्द्धक लेंस की अनुपस्थिति के कारण चित्रों का आकार इसके अंतिम रूप में आने तक एक ही रहता था। कैनवस चित्रों का फ़ोटोग्राफ़ प्राकृतिक रोशनी में पारम्परिक कैमरे से लिया जाता था। जब 1985 में भारत में नए परिवर्द्धक लेंस आए तभी मूल डिज़ाइन के आकार को कम किया जा सका।

इसके बाद वह दौर आया जिसे लोकप्रिय शब्दावली में 'काटो और साटो' कहा जाता है। यानी फ़िल्म के फ़ोटुओं को पहले काटकर अलग कर लिया जाता था और फिर उन्हें सजावटी तरतीब में लगाकर पोस्टर बना लिया जाता था। पृष्ठभूमि को रंगों और दूसरे अलंकारों की कूचियों से भर दिया जाता था। इस तरह 'काटो और साटो' की विधि वस्तुतः फ़ोटोग्राफ़ी और चित्र का मिश्रण रही है। पोस्टर डिज़ाइनर निर्माता व निर्देशक की सलाह से अपने काम को अंजाम देते हैं। कभी-कभार उन्हें फ़िल्म की पटकथा दे दी जाती है, लेकिन ऐसा नहीं होने पर उन्हें निर्माता-निर्देशकों की सलाह से काम चलाना पड़ता है। पोस्टर डिज़ाइनर को मुख्यतः गानों, पटकथा, कलाकार, शूटिंग की जगह जैसी बातों का ख़याल रखना पड़ता है, लेकिन अगर इनसे काम न चले तो स्टूडियो के अंदर या आउटडोर जगहों पर ले जाकर फ़िल्मों के प्रमुख कलाकारों के साथ विशेष चित्र खिंचवाए जाते हैं।

फिर उन सारे फ़ोटुओं को जाँचा-परखा जाता है। छाँटने की प्रक्रिया कई दिनों तक चलती है। चुने हुए फ़ोटुओं से पोस्टर बनाने की प्रक्रिया में कई दिन लग जाते हैं। कम्प्यूटर तकनीक के आगमन से डिजिटल रचनात्मकता, स्तरों को जमाने का काम, सटीक रंग डालना और बहु-छवि संयोजन अपेक्षाकृत आसान हो गया है। कम्प्यूटर पर विभिन्न संयोजनों की इस सम्भावना से फ़िल्मों के बहुआयामी पक्ष के प्रतिबिम्बन में लोच व सुविधा आई है। मुम्बई के इन उच्चस्तरीय डिज़ाइनरों के साथ-साथ अन्य शहरों में भी स्थानीय डिज़ाइनरों की सामानांतर अर्थव्यवस्था उभरी है। ये डिज़ाइनर कम्प्यूटर का आसानी से प्रयोग करते हैं तथा नियमित रूप से इंटरनेट से कलाकारों की तस्वीरें स्थानीय पोस्टरों के निर्माण की ख़ातिर निकालते हैं। इस तरह के कम्प्यूटर की दुकानों के प्रसार के कारण इस तरह की तकनीक तक पहुँच आसान हो गई है। पहले के कई डिज़ाइनर्स अब कम्प्यूटर की दुकानों में बैठे होते हैं तथा चुनाव प्रचार के पोस्टर्स, कम बजट की फ़िल्मों (ख़ासकर केन्द्र यानी दूरस्थ और अभ्यांतरिक स्थानों के लिए), सरकारी स्वास्थ्य अभियानों के लिए पोस्टर्स बनाने में व्यस्त रहते हैं। अपनी रचनात्मक दक्षता के बावजूद कोई भी स्थानीय डिज़ाइनर उतना पैसा नहीं कमा पाता जितना मुम्बई के उच्च स्तरीय डिज़ाइनर कमाते हैं।

फ़िल्म उद्योग की अराजक प्रकृति के कारण डिज़ाइन संबंधी सारे निर्णय तदर्थ रूप में लिए जाते हैं। शायद ही कोई पटकथा डिज़ाइनरों के अवलोकनार्थ जाती हो। *लगान* (2001, आशुतोष गोवारिकर) के पोस्टर की डिज़ाइनर सिमरत बरार याद करती हैं: 'यह अकसर अपवाद जैसा था क्योंकि मुझे फ़िल्माए गए गाने व पटकथा उपलब्ध कराए गए थे। हर फ़िल्म का कथानक दो या तीन उप-कथानकों में बाँट कर देखा जाता है। सुश्री बरार के हिसाब से *दिल चाहता है* (2001, फ़रहान अख़्तर) के ऐसे तीन तत्त्व थे: उसकी ताज़गी, उसका अंदाज़ और अंतर्राष्ट्रीय मिज़ाज, जिन्हें उन्होंने पोस्टर में उकेरने की कोशिश की।

नेशनल इंस्टिट्यूट ऑफ डिज़ाइन, अहमदाबाद में प्रशिक्षित सिमरत बरार ने विज्ञापन में अपना कॅरियर शुरू किया। वह मानती हैं कि वैसे तो मुम्बइया फ़िल्मी पोस्टरों के प्रस्तुतीकरण की हमेशा से अपनी ही एक शैली रही है, लेकिन आज के दौर के पोस्टरों की डिज़ाइन और काग़ज़ की गुणवत्ता पेशेवर विज्ञापन की शर्तों पर निर्भर होती जा रही है। चूँकि बहुत सारे डिज़ाइनर अब औद्योगिक विज्ञापन जगत से फ़िल्मी जगत में आ रहे हैं, इसलिए उनके द्वारा प्रयुक्त तकनीकों में समानता होना हैरत की बात नहीं है। कम्प्यूटरीकरण से पहले एक पोस्टर की लागत

लगभग डेढ़ रुपये थी। आजकल यह औसतन सात रुपये या फ़िल्म के बजट के अनुसार अधिक भी होती है। *सिल्वर प्वाइंट* नामक एक अहम मुम्बइया मुद्रक फ़िल्मी जगत के तक़रीबन 60 फ़ीसदी पोस्टर छापता है। उसके एक प्रतिनिधि का कहना है कि पोस्टर की औसत लागत बेहतर आर्ट पेपर, नई मुद्रण तकनीक, डिज़ाइनरों की फ़ीस आदि के कारण बढ़ गई है।

'कभी ख़ुशी कभी ग़म' (2002) नामक बड़े बजट की फ़िल्म के निर्माता ने प्रिंट-प्रचार पर लगभग 2 करोड़ रुपये ख़र्च किए जो प्रचार की कुल लागत का छठा हिस्सा था। *सिल्वर प्वांइट* व्यापार व उद्योग जगत के मशहूर मुद्रक हैं और विज्ञापनों की डिज़ाइनर दक्षता का इस्तेमाल फ़िल्मी पोस्टरों में करते हैं। पुराने ज़माने में फ़िल्म का प्रचार पोस्टरों और झलकियों (ट्रेलर) के ज़रिए होता था। आजकल यह काम टेलीविज़न, रेडियो और फ़िल्मी सितारों, निर्माता, निर्देशकों द्वारा ख़ास तौर पर चलाए गए विज्ञापन अभियानों से होता है। इन सब तरक़ीबों के लिए बाज़ार की रणनीति तैयार करने वाली संस्था *एन्डेवर* प्रिंट-प्रचार को विज्ञापन का एक हिस्सा मानती है। *एन्डेवर* के जनक राजेश ग्रोवर इस बात पर जोर देते हैं कि फ़िल्म को बाज़ारों में एक उत्पाद की तरह लाया जाना चाहिए तथा यह पूरी क्रिया पेशेवर तरीके से होनी चाहिए; क्योंकि फ़िल्म उद्योग में इसका अभाव रहा है। फ़िल्म के कुल 15-20 प्रतिशत पर *एन्डेवर* की आँखें होती हैं। प्रचार को फिर एक मुक़म्मल अभियान की शक्ल दी जाती है, जिसमें हर तरीक़े के साधन शुमार हैं। विज्ञापन, फैशन, फ़िल्म और टेलीविज़न के आपसी रिश्ते ने आक्रामक बाज़ार संस्कृति को जन्म दिया है। यही प्रवृत्ति नए भूमंडलीय सौंदर्य बोध में भी लक्षित है।

टेलीविज़न, शहरी क्षेत्र और नए पोस्टर

दुनिया भर के पंडितों ने उपभोग और शहरी भूगोल के सौन्दर्यशास्त्र के बीच के संबंधों की पड़ताल की है। जगह बदलने की प्रक्रियाओं में ही वस्तु-रूप अपना जादुई चरित्र धारण करता है। मल्टीप्लेक्स और नवीकृत सिनेमाघर, ख़रीदारी के लिए बने नए मॉल, कहवाघर, एटीएम व नियॉन लाइट के विज्ञापनों ने कई बड़े शहरों को एक शानदार नए तमाशे की शक्ल दे दी है। केबल टेलीविज़न से आए बदलावों ने दृश्यों के माध्यम से पूरी दुनिया को हमारे घरों में ला पटका है।

दृश्यों की इस बाढ़ का ताल्लुक़ वैसे तो मूलतः उपभोक्ता प्रदर्शन या तमाशबीनी से है, लेकिन इससे गली-चौक-चौबारों के रूप-रंग गतिचाल में ढेर-सारे बदलाव आए हैं। इस नयी दृश्य संस्कृति से भला सिनेमा के पोस्टर और ख़ुद सिनेमा जगत कैसे अछूता रहता।

1990 के दशक में केबल टीवी के आगमन ने फ़िल्म पब्लिसिटी के एक नए क्षेत्र का निर्माण किया है। पहले गानों को कार्यक्रमों में दिखाया जाता था। आगे चलकर फ़िल्म पब्लिसिटी के लिए ट्रेलर (झलकियाँ) बनाए गए। इन झलकियों को कार्यक्रमों, विज्ञापनों तथा गीत-संगीत की भीड़भाड़ में अपने लिए जगह बनानी होती है। इलेक्ट्रॉनिक विज्ञापन की दुनिया के लोगों को इन झलकियों को नाटकीय और शानदार बनाने के लिए कहा जाता है। ये झलकियाँ इस बात को सुनिश्चित करती हैं कि दर्शकों को विदेशी स्थानों, ऐक्शन, रोमांस, संगीत तथा कलाकारों की मौजूदगी अवश्य दिखायी जाए। पिछले कुछ वर्षों में ये फ़िल्म पब्लिसिटी में प्रमुख रूप से उभरे हैं। इससे टेलीविज़न और फ़िल्म उद्योग के बीच संबंध इतने गहरे हुए हैं कि लगभग सभी चैनलों पर अब 'बॉलीवुड' के पैकेज प्रदर्शित किए जाते हैं।

1992 में डिजिटल तकनीक को ला कर राहुल नन्दा ने पोस्टर निर्माण क्षेत्र में 'काटो व साटो' तकनीक का सफ़ाया कर दिया। वे भी पोस्टरों के नए रूप के पीछे टेलीविज़न का हाथ मानते हैं। उन्हें पारम्परिक होर्डिंगों पर चित्रित पोस्टर भोंडे व सस्ते नज़र आए क्योंकि पोस्टर कलाकार चालू क़िस्म की पिटी-पिटाई चित्रकारी किया करते थे। राहुल नन्दा ने शहर का पहला डिजिटल बिलबोर्ड तैयार किया। उनके अनुसार 1990 के दशक में फ़िल्म विज्ञापन उत्कृष्ट और परिष्कृत दिखने लगा। हालाँकि उन्हें शुरू में पारम्परिक डिज़ाइनरों के विरोध का सामना करना पड़ा मगर अंततः कम्प्यूटर ही पोस्टर डिज़ाइनिंग के लिए मुख्य रूप से इस्तेमाल किया जाने लगा। "आज प्रिंट मीडिया इलेक्ट्रॉनिक मीडिया की तरह दिख सकती है", ऐसा नन्दा कहते हैं। वे इंटरनेट और टेलीविज़न को नए युग का परिचायक मानते हैं जहाँ दृश्य संस्कृति, प्रिंट और गतिमान छवियों के बीच एक बेधड़क लेन-देन होता है।

जैसे-जैसे स्थापित माहौल का गठन स्टील, शीशे और प्रकाश के प्रयोगों द्वारा परिवर्तन के दौर से गुज़रता है वैसे-वैसे हम शहर के ख़ास हिस्सों में, शहरी आंदोलन के क्षेत्र में पहुँचते हैं जो मुख्य रूप से सौन्दर्यीकृत, जादुई और उत्तेजक होता है। जैसे-जैसे भवन निर्माण की सामग्री में इस्पात, काँच और रोशनी के नए प्रयोगों से बदलाव आ रहे हैं, शहरों में ऐसे इलाक़े मिलने लगे हैं जहाँ चुम्बकीय और तमाशाई साज-सज्जा से हमारा साक्षात्कार होने लगा है। लगता है हम सौंदर्यबोध की नई दुनिया में आ गए हैं। शहरों की वास्तु योजना में अब टीवी की उपस्थिति महत्वपूर्ण हो गई है। अपने केबल-अवतार में टेलीविज़न सार्वजनिक ज़िन्दगी के देशकाल व लय में जैसे दबे पाँव घुसा चला आया है। कहवाघरों, रेस्त्राँ, डिपार्टमेंटल स्टोर, एअरपोर्ट, बियर बार, छोटी-बड़ी दुकानों, फ़ास्ट फूड चेन या अन्य पब्लिक हलक़ों में माहौल का हिस्सा बन गया टीवी एक नई दृश्य संस्कृति का निर्माण करता है, जिसमें उचटती नज़र इलेक्ट्रॉनिक मीडिया की दृश्यमान गतिशीलता का नज़ारा देखती है।

हम टेलीविज़न सेट को घर के बाहर भी पाते हैं क्योंकि यह शहरी जीवन की तर्ज़ के साथ एकीकृत हो गया है। एम टीवी या ख़बरिया चैनलों, क्रिकेट या फ़िल्मी गीतों के तेज़ी से बदलते दृश्यों की गति के साथ मुसलसल साक्षात्कार ने फ़िल्म पोस्टरों को चमक-दमक में उतना ही आकर्षक बनने को मज़बूर कर दिया है। सिमरत बरार और राहुल नन्दा के अनुसार टीवी पर आने वाले विज्ञापनों के स्तर पर इन पोस्टरों का आना आवश्यक है। इन दोनों रूपों की दृश्य उपस्थिति का एक समान होना आवश्यक है ताकि फ़िल्म प्रचार के साथ इनका सहज संबंध बन सके।

चूँकि नई तकनीक ने देखने के ढंग को ही बुनियादी तौर पर बदल दिया है इसलिए शहरी प्रदर्शन की भव्यता के लिए सौन्दर्य बोध को एक अलग क़िस्म के सौंदर्यबोध की ज़रूरत आन पड़ी है। इस परिदृश्य में हाथ से बनी कभी मामूली रही सिनेमाई तस्वीरें अब संग्रहणीय कला का दर्जा प्राप्त कर चुकी हैं।

मोह और डिजिटल युग में कलात्मक माहौल (डिजिटल युग में अतीत मोह और कला की आभा)

यांत्रिक पुनरुत्पादन के वाल्टर बेंयामिन के मशहूर सिद्धांत के अनुसार फ़ोटॉग्रफ़ी के उदय से चित्रकला की आभा जाती रही और चित्रों की बहुलता ने कला के जनतंत्रीकरण को संभव बनाया क्योंकि संग्रहालयों की क़ैद से निकल कर वह आम लोगों को उपलब्ध हो गई। बदलाव की विडम्बना देखिए कि हाथ से बने फ़िल्मी पोस्टर जो नब्बे के शुरुआती वर्षों तक पूरे देश में चिपके रहते थे और सड़कों पर पाँच रुपये में बिकते थे, अब कलाकृति का दर्जा हासिल कर चुके हैं, क्योंकि गुणग्राहक संग्रहकर्त्ता उनका संरक्षण और प्रदर्शन करके उन्हें बेच रहे हैं। अर्जुन अप्पादुरई ने इस प्रक्रिया को 'विपथन द्वारा वस्तुकरण' 'commoditization by diversion' कहा है, जिसके तहत चीज़ों को उनके परिचित संदर्भ में उठाकर कहीं और रख देने से उनका मूल्य बढ़ जाता है। इन चीज़ों को फ़ैशन, घरेलू सजावट और संग्रह के हलक़ों में देखा जा सकता है। अप्पादुरई के अनुसार वस्तुओं का यह विपथन और मूल्य संवर्धन सौंदर्यबोध और उद्यमी ऊर्जा के साथ आने से होता है।

शुरू में इन्हें कला का रूप नहीं माना गया क्योंकि इनका सीधा संबंध प्रचार के व्यावसायिक नेटवर्क के साथ था। आज पारम्परिक पोस्टरों की सार्वजनिक क्षेत्र में ग़ैर-मौजूदगी इन्हें एक सम्माननीय वस्तु का दर्जा देती है, जिसका अध्ययन आवश्यक होता है तथा जिन्हें संग्रहालयों के विरल माहौल में या घरों में सजा कर रखने की दृष्टि से देखा जाता है।

जैसे ही डिजिटल तकनीक से तैयार छवियाँ या फ़ोटोग्राफ़ मुख्य रूप से पोस्टर कल्चर का हिस्सा बनती हैं वैसे ही हस्तनिर्मित या चित्रित पोस्टर की महत्ता बढ़ जाती है क्योंकि संग्रहकर्ता और संग्रहालय दोनों ही अपने संग्रहों के साथ प्रतिस्पर्द्धा करने लगते हैं। वे इन पारम्परिक पोस्टरों को 'लुप्तप्राय कला रूप' मानते हैं या इन्हें सांस्कृतिक इतिहास का प्रिंट मानते हैं। इस तरह ये पोस्टर नई वस्तु का दर्जा प्राप्त करते हैं, क्योंकि समकालीन रूप स्वयं ही विज्ञापन की तकनीकों से प्रभावित होकर ज़्यादा वस्तुकृत होता जाता है।

लुप्तप्राय कलारूप की आभा से मंडित होकर पोस्टर एक नई जिन्स बन जाते हैं जबकि साथ-साथ समकालीन पोस्टर विज्ञापन की नई तकनीकों से सुसज्जित होकर बिकाऊपन की एक और सीढ़ी चढ़ जाता हैं। 'सौंदर्यबोध' की नई सत्ता से लैस होकर पुराने पोस्टर वस्तु-विनिमय के विरल चक्र में अहम हो जाते हैं।

संग्रह क्या है, "आर्थिक दायरे से कुछ समय तक या स्थायी तौर पर बाहर रखी कुदरती या कृत्रिम चीज़ों को बंद जगहों पर सुरक्षित रख कर प्रदर्शित करने" की प्रक्रिया ही न? यहाँ संग्रहित वस्तुओं की एकमात्र उपादेयता अदृश्य और दृश्य जगत की विनिमय प्रक्रिया में शुमार हो सकने वाले अर्थ पैदा करने की क्षमता है। इस सिद्धांत को फ़िल्म पोस्टर पर लागू करना दिलचस्प होगा। डिजिटल पोस्टरों के आम होने के बाद, पुराने फ़िल्मी ज़माने की याद दिलानेवाले हाथ के रंगे पोस्टरों को थोड़े समय के लिए अदृश्य होना पड़ा। फिर अचानक वही चीज़ जिसे कुत्ता नहीं पूछता था, आज कला की मिसाल बनकर अप्राप्य हो गयी है। जो संग्रहकर्त्ता कुछ समय से पोस्टर जमा कर रहे थे, वे अब अपरिहार्य बन गए हैं। मुम्बई, दिल्ली और लंदन के कला गलियारों में मढ़े हुए फ़िल्मी पोस्टरों की प्रदर्शनियाँ लगने लगी हैं।

इस संदर्भ में *ओसियन्स (OSIANS)* नाम के नीलामीघर का उदय महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह कला की नीलामी करके लोक संस्कृति हेतु मोल पैदा कर रहा है। इसके संस्थापक नेविल टुली के ख़याल में कलात्मक संस्कृति को नए ढाँचे की ज़रूरत है ताकि कला को "विकास प्रक्रिया का केन्द्र बनाया जा सके और आगे चल कर एक ऐसी मूल्य-व्यवस्था उभर पाए जहाँ लोक-कला की साख हो।" टुली ने *ओसियन्स* को सरकार, निजी औद्योगिक प्रायोजनों और जनकल्याण से आर्थिक रूप से आज़ाद रखा है। इन सबको गौण महत्व देते हुए एक ऐसा नया तंत्र बनाया गया है जिसके ज़रिए कला की सम्पदा को उत्पादित और करीने से वितरित किया जा सके।

पोस्टर-सूची की भूमिका में टुली कहते हैं कि चटख रंगों, जज़्बाती भावनाओं और ऊर्जस्विता से लबरेज़ दीवार के पोस्टर के बरक्स गायतों की शांत सौम्य जलरंग — आकृतियों को रखने से कई नए अनपेक्षित अतंर्संबंध उजागर होने लगते हैं। बिकाऊ मूल्य के बिना वस्तुओं का क्या महत्व? *ओसियन्स* फ़िल्म उद्योग के अंदर और बाहर इसी विश्वास की उग्र वकालत कर रहा है। इस तरह की नीलामी को उचित ठहराते हुए टुली कहते हैं कि इससे लोग दस्तावेज़ों की क़द्र करेंगे और उनके संरक्षण के प्रति गम्भीर होंगे। टुली ने देशभर से लगभग 380 छोटे-मोटे संग्रहकर्त्ताओं और विक्रेताओं की सामग्री काफ़ी सस्ते में जुटा ली है।

यहाँ एक तरफ़ तो *ओसियन्स* जैसे अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त नीलामी घर हैं वहीं दूसरी तरफ़ फ़िल्म उद्योग की परिधि पर पड़े हुसैनी जैसे सिनेप्रेमी हैं। पहला मुख्य संग्रह हुसैनी नाम के एक सिने प्रेमी से ख़रीदा गया जिसने अपने 25 वर्षों के व्यक्तिगत संग्रह को एक लाख रुपये के लिए बेचा। जहाँ *ओसियन्स* नीलामीघर है वहीं हुसैनी की मौत के बाद उनके बेटों को मजबूरी में पैसे के लिए अपने संग्रह को बेचना पड़ा। इतिहासकारों, पत्रकारों, विद्यार्थियों और फिल्म समालोचकों की नियमित रूप से इनकी संग्रहों तक पहुँच थी तथा कोई व्यक्ति अपने निजी संग्रह को मामूली रक़म के लिए इनको बेच देता था। मुख्य संग्रहकर्ता और ऑक्शन हाउस के रूप में *ओसियन्स* के प्रवेश के कारण यह गतिकी पूरी तरह से बदल चुकी है।

फ़िल्म से जुड़ी स्मारिकाओं की मिल्कियत का इतिहास पेचीदा है। टुली के मुताबिक शुरू में तो सारे अधिकार निर्माता के पास ही होते हैं, लेकिन जैसे ही वितरक प्रचार सामग्री का इस्तेमाल करने लगते हैं, ये जनसम्पदा हो जाते हैं, जिसपर किसी व्यक्ति विशेष का अधिकार नहीं होता। अपने असल भौतिक रूप में पोस्टर जन सम्पदा हैं। टुली के अनुसार अगर हाथ से बना पोस्टर है तो उसकी मिल्कियत कलाकार की होती है, लेकिन अगर निर्माता ने क़रार किया हुआ है तो स्वत्वाधिकार उसका होगा। कलाकार की मिल्कियत सिर्फ़ उन मूल चित्रों तक महदूद होती है, जिनसे निगेटिव बनाए गए हों। हालाँकि 1990 तक कोई क़ाग़जी क़रार नहीं होता था — सब कुछ भरोसे पर चलता था। इसी अस्पष्ट स्थिति में ओसियन्स ने अपना धंधा शुरू किया और व्यापारियों व छोटे संग्रहकर्त्ताओं से सामग्री ख़रीद ली। चूँकि इसके पास अंतर्राष्ट्रीय बाज़ारों में प्रदर्शनियों व नीलामियों के आयोजन करने के तमाम साधन हैं, इसलिए इसने फ़िल्मी पोस्टर को लोकप्रिय कलावस्तु के रूप में स्थापित करने में कामयाबी अर्जित की। इस तरह पोस्टर के इर्द-गिर्द एक नई अर्थव्यव्स्था और वित्तीय लेन-देन का ताना-बाना बुन दिया गया है।

टुली कहते हैं कि कला दुनिया की सबसे क़ीमती वस्तु होती है क्योंकि यह इतिहास का मूर्त रूप है। जिस प्रकार से कला का माहौल पुराने फिल्मी पोस्टरों को आत्मसात कर रहा है उससे हम एक उलझन महसूस करते हैं कि इन छवियों का भविष्य क्या होगा? दुर्लभ फ़िल्मी पोस्टरों की अनुपलब्धता को आसानी से कम्प्यूटर

टेक्नॉलजी से दूर किया जा सकता है। व्यापक बाज़ार में इसे लाने के लिए कम्प्यूटर की रंग-योजना से सही करके नक़ली प्रतियाँ निकाली जा सकती हैं। चंद लोगों तक उपलब्धता और इस तरह विशिष्ट कला रूप के इसके मौजूद दर्जे में इससे भारी फ़र्क़ पड़ेगा। इन पुराने पोस्टरों के लिए इच्छा कहाँ से उत्पन्न होती है, इसे अभी जानना थोड़ा मुश्किल हैं मगर अति-विज़ुअल तीव्रता के क्षण में अतीत मोह उत्पत्ति की पहचान आवश्यक है।

टेलीविज़न के साथ संबद्ध दृश्य संस्कृति की नई सत्ता के बारे में जहाँ शक की गुंजाइश कम है वहीं पुरानी छवियाँ जो अलग समय की परिचायक भी हैं, केबल टी.वी. के माध्यम से प्रसारित हो रही हैं। स्टार गोल्ड, सोनी और ज़ी.टी.वी. पुरानी फिल्मों को दिखाते हैं जो कभी सिर्फ रविवार की रात में दूरदर्शन पर दिखाई जाती थीं।

विभिन चैनलों पर दिखाई जाने वाली श्वेत-श्याम फ़िल्में, 'रहें ना रहें' जैसे कार्यक्रम जिसमें जावेद अख़्तर पुरानी फ़िल्मों से तारुफ़ कराते हैं और 'यादें' जैसे दीगर कार्यक्रम पुरानी यादों को ताज़ा कर रहे हैं। इनकी उपस्थिति को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। पुरानी और नई मुम्बइया फिल्में दिखाकर ये सभी पीढ़ी के दर्शकों को संतुष्ट करना चाहते हैं। टेलीविज़न के कारण समकालीन परिदृश्य में श्याम-श्वेत और रंगीन, पुराने तथा नए, पहले तथा अभी, भूत तथा वर्तमान साथ-साथ विद्यमान हैं जो पहले कभी इतने मज़बूत तथा भव्य रूप में नहीं रहे। इसके कारण मोह और लोक स्मृति जीवंत हो जाती है।

चैनलों के ये कार्यक्रम टेलीविज़न पर फ़्लैशबैक जैसे हैं यानी कि ये एक साथ बहुल समय क्षेत्र की रचना करते हुए, नियंत्रण और दृश्य-संतुष्टि की चाहत पैदा करते हैं। हाथ से बना हुआ पोस्टर आज संग्रह योग्य वस्तु बन गया है। जगह बदलकर संग्रहालयों तक जा पहुँचा है। इसकी पैदाइश में अतीत मोह, उद्यमी कौशल, लोकस्मृति और आधुनिकता इन सबका योगदान है।

अनुवादः दीपक किशोर + नवल किशोर राम